कालिदास: आरण्यक संस्कृति के अग्रदूत
(रघुवंश के विशेष सन्दर्भ में)

डा० कमला पाण्डेय

महाकवि कालिदास ने अपना काव्य दर्शन अरण्य की पृष्ठभूमि में स्थापित किया है। इन्होनें अपनी कृतियों में वैदिक सनातन संस्कृति के आधार भूत तत्त्वों को पदे–पदे पिरोया है, यदि अरण्य की पर्वत कन्दरा में बैठे ऋषियों की हृदय गुहा में वैदिक ऋचाओं का अवतार हुआ तो वेदों के ही भाग ब्राह्मण और आरण्यक का परिशीलन भी वनों में ही हुआ है। तभी शंकराचार्य कहते है– अरण्येऽनूच्यमानत्वाद् आरण्यकम्''।

महाकवि ने अरण्य के सन्दर्भ को पहचाना, उसने बहुत पहले ही यह जाना कि नगरीय जीवन में अहंकारों की टकराहट और बनावटी जीवन चर्या के सिवाय और कुछ भी नहीं, वनों में ही जीवन की सार्थकता को पहचान मिलती है। यही कारण है कि महाकवि कालिदास की कृतियों में त्याग, तपस्या और तपोवन की सुवास बसी है।

स्वायम्भुव मनु से मानव सृष्टि चली, उन्होनें अपनी सन्तान को सुशिक्षित करने लिये एवं कर्मों के अधिकार का निरूपण करने के लिये वर्णाश्रम की व्यवस्था की। ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर विद्याध्ययन कर जब मनुष्य गृहस्थाश्रम के भौतिक उत्तरदायित्व को सम्पन्न कर लेते हैं तो समस्त प्राणी मात्र के लौकिक तथा आध्यात्मिक कल्याण के लिए चिन्तन की जो अवस्था आती है वह नगर एवं ग्राम के कोलाहल पूर्ण वातावरण में सम्पन्न नहीं हो सकती। उसके लिये एकान्त स्थान, शान्त चित्त, पवित्र मन एवं प्रशान्त वातावरण अपेक्षित है। इसलिए ऐसे चिन्तनशील लोग वन में प्रस्थान कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए निःश्रेयस सिद्धि के लिए जिस विद्या का चिन्तन करते हैं वही विद्या आरण्यक कहलाती है। इस प्रकार वानप्रस्थ आश्रम में रहते हुए अपने तपोबल से विश्वात्म रूप बने साधकों के विश्वकल्याणकारी चिन्तन ही संस्कृति के स्रोत हो जाते हैं।

महाकवि कालिदास की कृतियों में इसी संस्कृति के दर्शन होते हैं। उनकी रचनाओं में यह अभिव्यञ्जना सर्वत्र है कि अरण्यों में रह कर ध्यान के द्वारा विश्व की गम्भीरता में प्रवेश किया जा सकता है, विश्व को बिश्वात्मा की दृष्टि से देखा जा सकता है। तभी तो महाकवि ने मानव से मानव, मानव से पशु पक्षियों और मानव से वृक्ष लताओं के मुक्त मिलन के उन्मुक्त गान को विश्व रंगमंच पर स्थापित किया।

प्रकृति के इस चतुर चितेरे ने प्रकृति को मानव की चिर सहचरी माना है, उसे जड़ नहीं, चेतन माना है। उसके काव्य संसार में पर्वतस्तनों से दुग्ध – धवल – धार बहाती धरती मातृत्व के उल्लास से रोमांचित है। हिमवाहों को तोड़कर दौड़ पड़ी हैं सरिताएं ममता की लहरों से दुलारने चराचर हो, सीकरों को साथ लिये चल पड़ी है हवा सहलाती हुई जड़ चेतन को, हरियाली को देख भाव–विभोर नीला आकाश छलका रहा है मोतियों की फुहार को, सुनहली किरणों से झांकता सूरज निहार रहा है प्राकृतिक सुषमा को, सब कुछ उज्जवल है, भास्वर है, ललित है, मोहन है।

ऐसी प्रकृति की त्यागपूर्वक भोग की शिक्षा तपोवन में तपस्या से ही मिलती है। वहीं रहकर अपने चारित्रिक दोषों का मार्जन सम्भव है। देश जाति के उत्थान में लगने की शिक्षा तथा आध्यात्मिक संस्कृति

का उत्थान ऐसे ही तपोवन में हो सकता है जहां अहिंसा के प्रभाव से विश्वस्त मृग उटज के आंगन में एकत्रित नीवार के पास बैठकर जुगाली करते हैं–

आतपात्यय-संक्षिप्त-नीवारासु निषादिभिः ।
मृगैवर्तित - रोमन्थमुटजांगन - भूमिषु।। रघु. १. ५२

नदियों के तटों पर बसे इन आश्रमों में तपस्वियों के एकात्म दर्शन के प्रभाव से ''अहिंसा–प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'' (योग सूत्र) के अनुसार हिंसक पशु भी अपनी स्वाभाविक वृत्ति का त्याग कर देते थे। ऋषि पत्नियों का कुटिया के द्वार को रोकने वाले मृगों को अपनी सन्तान की भांति नीवार का भाग देकर पालन करना और उनका सब प्रकार से ख्याल रखना ''सर्वभूतहिते रताः'' का सजीव चित्रण है, जिसे कालिदास ने बड़ी बारीकी से उकेरा है–

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवार-भागधेयोचितैर्मृगैः।। रघु.१.५०

भारतीय आरण्यक संस्कृति तपोवन में ही विकसित हुई है। मानव का प्रकृति के साथ घुल मिलकर एक रस जीवन बिताना इस संस्कृति का मूल रहस्य है। भूतल पर दिव्य आनन्द का उपभोग करने के लिए मानव यज्ञ के द्वारा अपनी उत्तम वस्तु का समर्पण देवों को करता था और देवता उसे बदले में दिव्य उपभोग प्रदान करते थे–

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद् विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।। रघु. १.२६

आश्रमों में सायं प्रातः अग्निहोत्र होता था। ऋषि अपनी वाणी सदाचार द्वारा व्यक्तिगत जीवन से निवृत्त होकर इस विशाल विश्व की मंगल कामना करते थे। कुशासन पर आसीन ब्रह्मचारी ''स्वाध्यायान्मा प्रमदः'' श्रुतिवचन के अनुसार निरन्तर वेदाभ्यास में लगे रहते थे। यज्ञोपवीत का महत्त्व बतलाते हुए तैत्तिरीय आरण्यक ने कहा है– '' प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च ब्रह्मणा यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत्'' (तै० आ० २.९.९) अर्थात् यज्ञोपवीत धारण किए हुए का यज्ञ भली भांति स्वीकार किया जाता है, जो कुछ भी यज्ञोपवीती पढ़ता है वह यज्ञ ही करता है।

कालिदास ने भी

अथोपनीतं विधिवद् विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति।। रघु. ३.२९

कह कर यज्ञोपवीत हो जाने पर शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख करते हुए गुरुकुल की परम्परा का स्वाभाविक शब्दचित्र खींचा है। गुरुकुल अरण्यों में स्थित होते थे। जहां गो सेवा से लेकर आत्मज्ञान तक का उपदेश प्राप्त कर स्नातक 'सर्वजन–हिताय सर्वजन–सुखाय' मानवता की सेवा के लिए समाज में प्रवेश करता था। निर्धन से राजपुत्र तक वहां सामान्यरूप से भिक्षाटन करते हुए सार्वजनिक सेवा का अवसर प्राप्त करते थे। अतएव उनसे स्वार्थवृत्ति और धनलोलुपता कोशों दूर रहती थी। ऐतरेय आरण्यक में ''गवायमन'' सत्र का उल्लेख आया है। ''गवाम् अयन'' अर्थात् गायों का स्थान। गायों के स्थान अरण्य ही हैं,अतएव महाकवि ने निःसन्तान दिलीप और सुदक्षिणा को वशिष्ठ के आश्रम में भेजा है। कुलपति वसिष्ठ ने तेजस्वी सन्तान की प्राप्ति के लिए नन्दिनी गाय की सेवा का उपदेश दिया। गो सेवा महाव्रत को उसी प्रकार सम्पन्न करना है जैसे अभ्यास के द्वारा विद्या को प्रसन्न किया जाता है–

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि।। रघु. १.८८

राजा दिलीप ने गुरु से निर्देश पाकर पत्नी सुदक्षिणा के साथ उस पर्णशाला में शिष्यों के द्वारा अध्ययन से बिताई गई रात्रि को कुश के आसन में बैठ कर बिताया–

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला–
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याऽध्ययन - निवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय।। रघु. १.९५

गो सेवा महाव्रती राजा दिलीप की पत्नी को यज्ञ की दक्षिणा के समान पवित्र बताया गया है। उनके अंग- प्रत्यंग में व्रत की छाप है। प्रातः गो–चारण के लिये निकले पति को सायं गाय का अनुगमन कर आते हुए देख मानो सुदक्षिणा के नेत्रों ने अपने उपवास का पारण किया हो–

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तम्
आवर्तमानं वनिता वनान्ताद्
पपौ निमेषालसपक्ष्म-पंक्ति–
रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ।। रघु. २.१९

अपनी सेवा से परितुष्ट नन्दिनी के कहने पर भी पूर्ण अनुशासित राजा ने अपनी आराध्या से जो कुछ कहा, वह आरण्यक संस्कृति की आचार संहिता का अनूठा उदाहरण है। आश्रम में लौट कर यज्ञ के लिये अपेक्षित और बछड़े के पीने से बचे हुए दूध को दिलीप ने गुरु वशिष्ठ की अनुज्ञापूर्वक प्रसाद रूप में स्वीकार किया–

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा
सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः
शुभ्रं यशोमूर्तमिवातितृष्णः।। रघु. २.६९

''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'' अर्थात् त्याग पूर्वक भोग की संस्कृति का दर्शन कराते हुए कालिदास तपस्या के सुन्दर फल के रूप में प्राप्त त्याग मूर्ति राजा रघु के विषय में लिखते हैं–

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।। रघु. ४.८६

विश्वजित् यज्ञ का उल्लेख वेदों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में प्राप्त होता है। यह सर्वमेध यज्ञ है जिसमें सब कुछ दान कर दिया जाता है। राजा रघु भी सर्वमेध कर रिक्तकोष हो गये थे। उसी समय गुरुदक्षिणा के लिए चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के इच्छुक स्नातक वरतन्तु के शिष्य कौत्स उनके पास उपस्थित हुए, राजा ने उनका यथोचित् सत्कार कर उनके गुरु की कुशल क्षेम इस प्रकार पूछी–

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे! कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः।। रघु. ५.४

ज्ञान अनादि, है इसी प्रकार मंत्र भी अनादि हैं। उनके द्रष्टा ऋषिगण होते हैं, जो भागवत के 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदताम्'' के सिद्धान्त के अनुयायी होते हैं।

रघु का जन्म अरण्य में गो सेवा से और कौत्स का विद्यार्जन भी अरण्य में गुरु सेवा से हुआ है, दोनों पर आरण्यक संस्कृति की गहरी छाप है, इसी लिए एक धन न रहने पर अधिक देने की कामना और दूसरा गुरु को दिये जाने वाली दक्षिणा से अधिक न लेने का इच्छुक है--

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिक--निःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थि-कामादधिकप्रदश्च।। रघु. ५.३१

उपनिषदों में प्रतिपादित श्रेय और प्रेय की कितनी सुन्दर प्रस्तुति कालिदास ने निम्नांकित श्लोक में की है--

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव।। रघु. ५.३४

कौत्स ने रघु से कहा कि "आपको सभी श्रेय प्राप्त है मैं जो भी आशीर्वाद दूंगा, वह पुनरुक्ति ही होगी, अतएव मुझे ऐसा श्रेयस्कर और प्रेयस्कर आशीर्वाद देना चाहिये, जो आपके पास अभी तक न हो। अतएव जिस प्रकार आपके पिता ने अपने गुणानुरूप आपको प्राप्त किया था, उसी प्रकार आप भी अपने गुणानुरूप पुत्र को प्राप्त करिये--

अरण्य अनन्य शरण हैं। चाहे प्रत्याख्याता शकुन्तला हो अथवा भग्नमनोरथा पार्वती, सुताभिलाषी दिलीप हो अथवा वानप्रस्थी दशरथ, निर्वासित राम हो अथवा परित्यक्ता सीता; सबकी शरण अरण्य हैं। जो राज प्रासाद में नहीं अमाये, वनों ने उन्हें गले लगाया। पति के द्वारा परित्यक्त सीता के कुररी के समान क्रन्दन को सुन कर कुश और समिधा लेने के लिये निकले वाल्मीकि के अमृत वर्षी वचन अरण्य के उस वैभव को प्रकट कर रहे हैं जिसके समक्ष राज वैभव बौना हो जाता है--

तपस्विसंसर्ग - विनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन्।
इतो भविष्यत्यनघ - प्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते।।

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषंगामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम्।।

पयोघटैराश्रम - बालवृक्षान् संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
अशंसयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्।। रघु. १४.७५--७८

हे पुत्रि! तपस्वियों के संसर्ग से विनीत वस्तुओं वाले इस वन में तुम निर्भय हो कर रहो। इस वन में निर्विघ्न प्रसव हो जाने के उपरान्त तुम्हारी सन्तान का संस्कार कर्म होगा। पुष्प, फल और नीवारादि धान्यों को लाती हुई मधुर भाषिणी मुनिकन्यायें इस नूतन दुःख से भरी हुई तुमको प्रसन्न करेंगी, तुम छोटे--छोटे जल के घड़ों से आश्रम के पौधों को सींचकर पुत्रोत्पत्ति के पहले ही स्तन्यपान के आनन्द को प्राप्त करोगी।

शोक से दीन असहाय सीता को दयार्द्रचेता महर्षि वाल्मीकि ने अपने शान्त आश्रम में ले जाकर उन तापसियों को उसी प्रकार सौंपा जिस प्रकार पितरों से भुक्तसार वाली चन्द्रमा की अन्तिम कला को अमावस्या औषधियों में समर्पित करती है--

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु।। रघु. १४.८०

तपोवन का भौतिक स्वरूप जितना आकर्षक, पवित्र तथा सुन्दर है उसका आध्यात्मिक रूप भी उतना ही शुचि, कमनीय, प्रदूषण मुक्त और पर्यावरण संशोधक है पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के

विशुद्ध स्वरूप को बनाये रखने के लिए महाकवि ने तपोवन को इतना महत्त्व दिया है। उनके मत में सूर्य का स्थान अत्यन्त श्रेष्ठ है। ऐतरेय आरण्यक में जिस गवामयन महाव्रत का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध सूर्य से है। कालिदास ने अपने काव्यों में सूर्य को लेकर अनेक उपमायें दी हैं। रघुवंश को महत्त्व देते हुए वे कहते हैं–

क्वसूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति:।। रघु. १.२

वे कहते हैं कि पञ्चभूतों और उससे भी ऊपर उठ कर चित् तत्त्व को अपनाना जीवन के लिये अपरिहार्य है। सम्पूर्ण के सन्तुलन के लिये प्रकृति के महत्त्व को समझना होगा। रघुवंश का उत्थान जहां आरण्यक संस्कृति से हुआ है, वहीं भोग संस्कृति में उसका अवसान है। अग्निमित्र के वर्णन से भोग प्रधान संस्कृति के दुष्परिणाम को दिखला कर आरण्यक संस्कृति में जाने का संकेत कालिदास कर रहे हैं। आज पुन: आवश्यकता है कालिदास को समझने की। असन्तुलित पर्यावरण एवं भोग से रुग्ण सभ्यता के जिस संकट से हम त्रस्त हैं, उससे बचने के संकेत कालिदास ने आरण्यक संस्कृति के चित्रण से दिये हैं। इसीलिये कालिदास को कहा जा सकता है– आरण्यक संस्कृति के अग्रदूत।